

हिंदी सिनेमा : यूनिट-1

कला विधा के रूप में सिनेमा और उसकी सैद्धांतिकी

डॉ. महेंद्र प्रजापति

कला का संबंध सृजन से है और मनुष्य ने अपने आरम्भिक समय से इस सृजनात्मकता का परिचय दिया है। मानव सभ्यता के विकास के साथ कलारूपों का भी विकास होता गया। कला द्वारा मस्तिष्क और कल्पना को शिक्षित करने का अर्थ ऐसे मस्तिष्क का निर्माण करना है जो मानवता के बेहतर सोपानों को पार करे, जहाँ से मनुष्य संकुचित विचारों से ऊपर उठ सकता है। सिनेमा कई कलाओं की समुचित विधा है। नृत्य, गीत, संगीत, अभिनय, चित्रकला सभी कलाएं इसमें समाहित हैं इसलिए सिनेमा आम जनता से आसानी से संवाद करने में सफल हुआ। सिनेमा आज के दौर का एक महत्वपूर्ण कला माध्यम है और इस कला माध्यम का अपने समाज से गहरे स्तरों पर जुड़ाव है।

सिनेमा का सामान्य परिचय

सिनेमा हमारी संस्कृति का हिस्सा है। हमारे जन-जीवन को अगर कोई कला व्यापक स्तर पर प्रभावित कर पायी तो वो भी सिनेमा है। सिनेमा के आरंभ से ही व्यावसायिक और अव्यावसायिक फिल्में बनती रही हैं। उन्हीं फिल्मों को दर्शकों और आलोचकों ने याद रखा जिन्होंने हमारी सांस्कृतिक चेतना को गहराई से प्रभावित किया। सिनेमा सिर्फ आनंद नहीं विचार भी है। सवाल यह है कि आप देखने के लिए किस तरह की फिल्में चुनते हैं। सिनेमा समाज को वैचारिक रूप से मजबूती भी प्रदान करता है। सबसे लोकप्रिय कला माध्यम के रूप में हम सिनेमा को देखते हैं। फिल्मों समाज और समय का जीवंत दस्तावेज होती हैं। चरित्र प्रधान या किसी घटना पर बनी फिल्मों का निर्माण सामाजिक बदलाव की पूर्ति के उद्देश्य से किया जाता है।

नब्बे के बाद हिंदी सिनेमा में कई तरह के गुप्स बने। कुछ लोगों के लिए सिनेमा सिर्फ व्यवसाय था, ये वे लोग थे जिन्हें सिनेमा बनाना अपनी पुरानी पीढ़ी से विरासत में मिला था। दूसरे वे लोग हैं, जिन्होंने लंबे संघर्ष के बाद अपना स्थान बनाया और वह एक ही तरह की फिल्में बनाकर पैसा कमाते हैं। रामगोपाल वर्मा, डेविड धवन, राजकुमार संतोषी, करण जौहर, आदित्य चोपड़ा जैसे निर्देशक इसी श्रेणी में आते हैं। तीसरे वे लोग हैं जिनके लिए सिनेमा एक आंदोलन है। वह सिनेमा से समाज को बदलना चाहते हैं। अनुराग कश्यप,

तिग्मांशु धूलिया, दिवाकर बनर्जी, शुजीत सरकार, अनुराग बासु जैसे लोगों ने सिनेमा को ग्लोबल से लोकल बनाया लेकिन उन्हें ख्याति ग्लोबल मिली। इन फ़िल्मकारों ने ऐसे-ऐसे विषयों को उठाया जिससे अन्य लोगों को घिन आती थी। जो विषय तथाकथित सभ्य समाज के लिए अनफिट बैठते थे। नए लोगों ने प्रयोग किया और सफलता भी पायी।

युवा पीढ़ी हिंदी सिनेमा के केंद्र में रही। सिनेमा की कहानी में भी और देखने वालों में भी। चूँकि फ़िल्मकार इस सच्चाई से अवगत हैं इसलिए उन्होंने युवाओं के प्रति ईमानदारी बरती। आज जो लोग फ़िल्में बना रहे हैं उनके केंद्र में भी युवा पीढ़ी है। युवा, श्री इंडियट्स, रंग दे बसंती, स्टूडेंट ऑफ द ईयर, दिल दोस्ती एक्सट्रा आदि फ़िल्में युवा मन को छूने वाली हैं। युवाओं को केन्द्रित कर हर वर्ष दर्जनों फ़िल्मों का निर्माण होता है। आने वाले समय में सिनेमा युवाओं के लिए कुछ बेहतर ही करेगा—“सिनेमा युवा जीवन के मुद्दों एवं समस्याओं को लेकर बेहद ईमानदार भूमिका निभाता रहा है। युवा हिंदी सिनेमा ने अपनी व्यावसायिक समस्याओं और सीमाओं के बावजूद लोकपक्षधरता एवं सार्थकता से समझौता नहीं किया है, भारत में सबसे ज्यादा युवा आबादी है एवं सबसे ज्यादा साल में फ़िल्में बनती हैं। उम्मीद है, युवा वर्ग सिनेमा के क्षेत्र में परती जमीन को उर्वर बनायेगा।”¹ फ़िल्में कभी एक जैसी निर्मित नहीं हो सकती हैं। हिंदी फ़िल्म उद्योग बहुत बड़ा है। यहाँ विभिन्न भाषाओं, परिवेशों से लोग आते हैं और अपने ढंग से काम करते हैं। यह जरूर है कि नई पीढ़ी पर उम्मीद किया जाना चाहिए। वही बेहतर सिनेमा बना पाएगी। उसके पास नई दृष्टि और काम करने का नया ढंग है।

भूमंडलीकरण के बाद हिंदी सिनेमा बनाने वालों और देखने वालों दोनों की दृष्टि बदली है। आगे मैं कुछ ऐसी फ़िल्मों की चर्चा करने जा रहा हूँ जिसमें समाज का नया चेहरा देखने को मिलता है। ये फ़िल्में हिंदी सिनेमा की पारंपरिक छवि को तोड़ते हुए ऐसे विषयों पर बनी हैं जिन्हें अभी तक किसी फ़िल्मकार द्वारा दिखाने की हिम्मत नहीं की गई थी।

कला रूप में सिनेमा की सैद्धांतिक समीक्षा

सिनेमा आज एक कला के रूप में सर्वमान्य हो चुका है, जिसकी एक लम्बी प्रक्रिया चली जिसमें पश्चिम के सिने सिद्धान्तों की महत्वपूर्ण भूमिका है, सिनेमा को कला के रूप में प्रतिष्ठित करने में पश्चिम और पूर्व के मिले-जुले प्रयासों की बड़ी भूमिका है। शुरुआती चरण में सिनेमा को कला के रूप में देखना केवल एक ‘फ़िल्म सराहना’ मानी जाती थी। यह क्रम पचासवें दशक के पहले तक चलता रहा। अन्य कलाओं की तरह सिनेमा भी देशकाल, सामाजिक संरचना और व्यक्ति की समस्याओं से सीधे जुड़ा रहता है। आज हम जो सिनेमा

¹ ‘अनहद’, विपिन शर्मा, नयी सदी का सिनेमा अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2018,

देखते हैं वह कोई चमत्कार या क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं है बल्कि सिनेमा की खोज एक लम्बे वैज्ञानिक आविष्कार का नतीजा है। “पिछले डेढ़ सौ वर्षों में इस समाज, सभ्यता तथा संस्कृति के साथ कई चीजें जुड़ी हैं। इन नयी चीजों में समाज, संस्कृति तथा सभ्यता को गहराई से प्रभावित करने वाले दुनिया के सर्वाधिक बड़े और अनूठे कला माध्यमों से सिनेमा का जुड़ना काफी महत्वपूर्ण रहा। सिनेमा आज के दौर का एक महत्वपूर्ण कला माध्यम है और इस कला माध्यम का अपने समाज से गहरे स्तरों पर जुड़ाव है। सिनेमा बुनियादी रूप से समाज से अलग नहीं होता। सिनेमा बुनियादी रूप से समाज से अलग नहीं होता। “सिनेमा चाहे मनोरंजन के लिए हो या व्यवसाय के लिए या कला के उत्कर्ष की अभिव्यक्ति के लिए उसमें अपने दौर का समाज किसी न किसी रूप में व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकता। यह अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष और अतिरंजित रूप में भी हो सकती है और प्रत्यक्ष और रचनात्मक रूप में भी। सिनेमा ने सामाजिक यथार्थ को खूबसूरती से प्रस्तुत किया है। सिनेमा को केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं किया जा सकता बल्कि सिनेमा समाज को गहराई तक प्रभावित भी करता है और खुद प्रभावित भी होता।

सिनेमा ने सामाजिक यथार्थ को खूबसूरती से प्रस्तुत किया है। सिनेमा को केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं किया जा सकता बल्कि सिनेमा समाज को गहराई तक प्रभावित भी करता है और खुद प्रभावित भी होता है। कला मनुष्य की सृजनात्मकता की परिचायक है। मनुष्य ने कभी अपनी अभिव्यक्ति तो कभी मनोरंजन के लिए अनेक कलाओं का निर्माण किया। अन्य कलाओं में सिनेमा सबसे लोकतांत्रिक है और हर वर्ग तक आसानी से पहुँचने में सक्षम भी है।

सिनेमा को हमेशा मनोरंजन का माध्यम समझा गया इसलिए गंभीर कला के रूप में उसे कभी स्वीकार नहीं किया गया। एक समय के बाद सिनेमा ने यथार्थवादी फिल्मों का निर्माण कर इस तथ्य को तोड़ दिया कि सिनेमा मात्र व्यापार है। सत्यजीत रे, विमल रॉय, राजकपूर, श्याम बेनेगल, गोविन्द निहलानी आदि फिल्मकारों ने यह साबित किया कि सिनेमा व्यापार और व्यवसाय के साथ सामाजिक समस्याओं और संवेदनाओं को बेहतर ढंग से व्यक्त करने में सक्षम है। सिनेमा के व्यापारी होने की धारणा से ही बौद्धिकों ने इसे साहित्य का हिस्सा मानने से इन्कार कर दिया जबकि सिनेमा बनने की प्रक्रिया साहित्य से ही आरम्भ होती है। राही मासूम रजा ने इस बात को स्पष्ट रूप से लिखा है- “फिल्म कला है या व्यापार? मैं फिल्म को साहित्य का अंग मानता हूँ। आज के मानव में आत्मा की पेचीदगी को अभिव्यक्त करने के लिए साहित्य के पास उपन्यास और फिल्म के सिवा कोई साधन नहीं है। मैं यहाँ यह बहस नहीं छोड़ना चाहता कि कविता का क्या बनेगा। . . काव्य को साहित्य मानता हूँ और मैं उपन्यास और फिल्म को भी काव्य का ही एक रूप मानता हूँ। जैसे-जैसे जीवन पेचीदा होता गया, वैसे ही वैसे काव्य वरण बदलता गया। महाकाव्य उपन्यास बना

और नाटक फिल्म।कुछ लोग यह कहते हैं कि अच्छी फिल्म केवल वही हो सकती है जो असाहित्यिक हो।² मैं यह बात नहीं मानता।आप कह सकते हैं कि फिल्म दृष्टि की कला है इसलिए वह साहित्य नहीं हो सकती।साहित्य भी अब दृष्टि की ही कला है।हमने जिस दिन लिखना सीखा था साहित्य ने तो उसी दिन बोलना बंद कर दिया था।हम भी एक किताब हैं जिसे डायरेक्टर हमारे सामने खोलता भी जाता है और पढ़े लिखे हैं तो उसके सुनाए बिना भी हम इस किताब को पढ़ सकते हैं।”²

सिनेमा कला की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह अपने समाज के तत्कालीन प्रभाव को सचित्र दिखाने में सक्षम है।सिनेमा एक बार में करोड़ों लोगों तक पहुँचकर किसी समस्या या संवेदना को व्यक्त कर सकता है जो कोई अन्य माध्यम नहीं कर सकता है।

कला और सिनेमा का संबंध यूँ ही विवादित नहीं है दरअसल सिनेमा का एक बहुत बड़ा गुण मनोरंजन भी है जबकि कला के बारे में बौद्धिक वर्ग का यह विचार रहा है कि कला मानव जीवन की जीविका और मनोरंजन का साधन नहीं है बल्कि वह उसके मानसिक विकास का प्रमाण है और उसके सृजनात्मकता का चरमोत्कर्ष भी।मनुष्य ने जैसे-जैसे मानसिक विकास किया विभिन्न कलाओं के माध्यम से अपनी रचनात्मकता का परिचय भी दिया।आरंभिक समय में पत्थरों पर फिर कागज पर फिर कैनवास पर और फिर पर्दे पर। सिनेमा ने अपने सामाजिक सरोकारों को हमेशा अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और उसे प्रदर्शित करने का साहस भी किया।

सिनेमा की व्यावहारिक समीक्षा

अपनी नवीन विचारधारा और क्रांतिकारी तेवर के कारण पूरे विश्व में जाने जाने वाले फ्रांस ने ही सिनेमा विधा को भी जन्म दिया। लूमियर बन्धु ह्यागस्ट और लुईह तथा जॉर्ज मिलिए तीनों फ्रांस के नागरिक थे।लूमियर बन्धु पिछले कई वर्षों से छायांकन के क्षेत्र में अभिनव प्रयोगों में जुटे थे। अपने प्रारंभिक प्रयोगों में सफलता पाने के बाद उन्हें चलचित्रों का माध्यम यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए सर्वश्रेष्ठ लगा।28 दिसम्बर 1895 को पेरिस में पहली बार जब उन्होंने स्टेशन पर आ रही रेलगाड़ी, फैक्टरी से छूटने के बाद घर जाने के लिए बाहर आते मजदूरों तथा बगीचों में पानी देते माली के चलचित्र प्रदर्शित किए तो इन फिल्मों में स्थान/समय तथा परिवेश का प्रमाणिक प्रस्तुतीकरण पूर्ण यथार्थ को जी लेने का एहसास कराता था।

समाज की धड़कने सिनेमा में साफ सुनी जा सकती है।सिनेमा समाज की गतिविधियों को व्यक्त करने में सबसे समर्थ माध्यम है।वह यहां साहित्य से अधिक प्रभावी

² वसुधा-81, पृष्ठ 81

माध्यम इसलिए साबित हो जाता है क्योंकि साहित्य किसी घटना का मात्र वर्णन कर सकता है परन्तु सिनेमा उसे सचित्र दिखा भी सकता है। सिनेमा की यही शक्ति है।

इतना शक्तिशाली होने के बावजूद भी यह सवाल बना रह जाता है कि क्या सिनेमा किसी भी घटना को उसी संवेदना के साथ व्यक्त कर सकता है जो उसकी मूल संवेदना है? दरअसल सिनेमा एक पूर्णरूपेण व्यावसायिक माध्यम है। वह किसी गतिविधि को व्यक्त करने से पहले यह विचार करता है कि जो वह दिखाने जा रहा है, वह दर्शकों से कितना जुड़ पाएगा। यह एक फिल्मकार की व्यक्तिगत मजबूरी भी होती है क्योंकि उसके सामने एक दर्शक की प्रतिक्रिया का दबाव भी होता है। यहाँ पर प्लेटो के अनुकरण का सिद्धान्त लागू होता है। प्लेटो का मानना है कि हर कला प्रकृति का अनुकरण होती है। जो कुछ भी निर्मित किया जा रहा है वह प्रकृति में पहले से ही मौजूद है।

प्रत्येक कला विधा की अपनी एक भाषा होती है और अपना मुहावरा होता है। चित्र की भाषा है- रंग और रेखाएं तो नृत्य की भाषा है- पदचाप और मुद्राएं। ये भाषा के वे वायवीय रूप हैं जिन्हें ग्रहण करने के लिए एक विशेष हृदय और विशेष समझ की जरूरत होती है। जबकि साहित्य की भाषा एक ऐसी लिखित भाषा होती है जो प्रत्यक्ष होती है और जिसे जानने समझने के लिए विशेष प्रशिक्षण आवश्यक होता है। भाषा ही वह माध्यम है जो फिल्मों को सीधा दर्शकों से जोड़ती है। अगर फिल्म की भाषा दर्शकों से सीधा संबंध स्थापित नहीं कर पाती है तो अच्छी पटकथा और निर्देशन होने के बावजूद भी फिल्म पिट जाती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है 'रजिया सुल्तान'। 'रजिया सुल्तान' कमाल अमरोही द्वारा निर्देशित लाखों की लागत से बनी फिल्म थी जिसमें दृश्यों की प्रामाणिकता और चरित्रों का प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने के लिए ऊर्दू और फारसी के शब्दों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ। भाषा की जटिलता से 'रजिया सुल्तान' जैसी महत्वपूर्ण फिल्म आम दर्शकों तक पहुंचने में असफल हो जाती है वहीं 'मुगले आजम' जैसी फिल्म ऊर्दू और फारसी के शब्दों के प्रयोग के बावजूद भी सफलता के आसमान तक पहुंच जाती है। कारण स्पष्ट नज़र आता है कि इस फिल्म में कमाल अमरोही ने हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया जो भारतीय जनमानस को अपनी भाषा से आसानी से जोड़ देती है। भाषाओं की जटिलता ने कई अच्छी फिल्मों को दर्शकों से दूर कर दिया। इसका एक उदाहरण हमें हाल की ही फिल्म 'काईट्स' में देखने को मिलता है। ऋतिक रोशन और एक विदेशी बाला की प्रेम कहानी पर बनी यह फिल्म दो अलग-अलग भाषाओं के प्रेमियों के बीच पनपे प्यार की दास्तान है। इस फिल्म में दोनों पात्रों के आपसी वार्तालाप के लिए किए गए संवाद दर्शकों को खटकने लगते हैं। इसलिए एक अच्छी मनोरंजक फिल्म भी असफल हो जाती है। वस्तुतः हम देखते हैं कि भाषा की इस शाब्दिक सीमा से उपर उठ जाना ही सिनेमा की सबसे बड़ी शक्ति है और जिस फिल्म में यह शक्ति जितनी अधिक होती है। वह फिल्म उतनी ही सार्वभौमिक और सार्वकालिक बन जाती

है। कालजयी सर्जना तभी होती है। जब उसकी संवेदना भाषा-विचार और सांस्कृतिक परिवेश के क्षितिजों को तोड़कर शुद्धतः मानव मात्र की संवेदना बन जाती है। इस संवेदना को हम फिल्म 'लगे रहो मुन्ना भाई' के 'जादू की झप्पी' के माध्यम से समझ सकते हैं। वास्तव में जब भी ऐसी फिल्म हमारे सामने आती है तो उसकी संवेदना को आत्मसात करने के लिए सहृदय को भाषा जैसे माध्यम पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है। यही सिनेमा की भाषा की ताकत है कि वह अपनी बात आम जनता तक पहुंचाने के लिए किसी भी भाषा के शब्दों का इस्तेमाल कर लेता है। आज का सिनेमा अपनी मार्केट वैल्यू बढ़ाने के लिए अंग्रेजी की तरफ बढ़ रहा है। यह बहुत ध्यान देने वाली बात है कि अंग्रेजी के कंधे पर सवार होकर सिनेमा लोकल भाषाओं को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। यह आज के सिनेमा की भाषा की पहली शर्त है कि कितनी बिकाऊ है। सिनेमा जिस भाषा का निर्माण कर रहा है वह लोकप्रिय भाषा है। व्याकरणिक शुद्धता और साहित्यिक पुट देने की जिम्मेदारी से कहीं न कहीं भाग रहा है। सिनेमाई समीकरण के लिए तो यह ठीक है लेकिन भाषा को विकसित करने की दृष्टि से यह ठीक नहीं है। अगर ऐसा ही रहा है तो कुछ वर्षों बाद हिंदी सिनेमा की भाषा हिंदी नहीं रहेगी।

सिनेमा में कई तरह के लोग एक साथ काम कर रहे हैं। एक तरफ कारण जौहर और यश परिवार है जो बड़े बैनर और बड़े स्टार के साथ विदेशों में फिल्में शूट करते हैं जिनके हीरो हिरोइन ठीक से हिंदी बोलना तक नहीं जानते। दूसरी अनुराग कश्यप, तिममांशु धूलिया, दिवाकर बनर्जी, शुजीत सरकार जैसे लोग हैं जो अर्थपूर्ण लेकिन व्यावसायिक सिनेमा बना रहे हैं। उनके सिनेमा की भाषा हिंदुस्तानी भाषा है। कुछ-कुछ अंग्रेजी भी। दरससल भूमंडलीकरण ने भाषा को सांस्कृतिक परिवर्तन का हवाला देकर भाषाओं पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। ऐसी फिल्मों में लोकल भाषा न के बराबर होती है। ऐसी फिल्मों का निर्माण इसलिए किया जाता है जिससे उसे पूरे भारत में दिखाया जा सके। ऐसी फिल्मों के न पात्र लोकल होते हैं न भाषा। वह कहाँ के होते हैं यह भी नहीं बताया जाता है। जैसे बाहुबली, बजरंगी भाई जान, कृष, रोबोट जैसी फिल्मों की भाषा सभ्रांत समाज के लिए होती है जो अपनी विषय-वस्तु की रोचकता के कारण प्रत्येक वर्ग को आकर्षित तो करती है। यह आकर्षण जब बढ़ जाता है तो भारतीय भाषाओं के खोने का खतरा बना रहता है। कलाओं की जिम्मेदारी है कि वह अपने देश की भाषा के विकास में अपनी भूमिका निभाएँ। फिल्मों जिस तरह से मिलावटी भाषा का प्रयोग कर रही हैं उसमें किसी एक भाषा की महक नहीं रह गई है। सिनेमा को हिंदुस्तानी भाषा की परिधि में रहकर ही उचित प्रयोग करना होगा।

विश्व सिनेमा के विख्यात हास्य अभिनेता चार्ली चैपलिन ने बिना संवादों के ही अपनी शारीरिक क्रियाओं से वर्षों तक लोगों के दिलों पर राज किया जो आज भी बरकरार है। भारतीय सिनेमा का आरम्भ ही मूक फिल्मों से होता है जिसमें स्वयं को व्यक्त करने के लिए सांकेतिक भाषा के सिवाय कोई माध्यम नहीं था। बाद में हिन्दी सिनेमा में 'पुष्कर' जैसी

प्रयोगवादी फिल्मों में भी बनी जिसमें संवाद बिल्कुल थे ही नहीं फिर भी पूरी फिल्म में दर्शक स्वयं को हंसने से रोक नहीं सके।

अपनी पिछली फिल्मों के लेखन से जो प्रसिद्धि अनुराग कश्यप को मिली है उसके आधार पर वह भाषासिद्ध निर्देशक और लेखक कहे जा सकते हैं। वह अपनी फिल्मों में विषयानुकूल और पात्रानुकूल भाषा का सटीक प्रयोग करते हैं। भाषा का अनूठा प्रयोग ही उनकी फिल्मों को उनके समकालीन अन्य निर्देशकों की फिल्मों से अलग करता है। अपनी पहली ही फिल्म 'सत्या' के पटकथा लेखन के लिए उन्हें कई पुरस्कार प्राप्त हुए। कहना गलत न होगा कि 'सत्या' में अनुराग कश्यप ने चरित्रों की भाषा को जिस तरह पकड़ा है उसे उसी सलीके से प्रस्तुत भी किया है।

सिनेमा भाषा के बढ़ते वर्चस्व के हिसाब से सिनेमा की भाषा चुनता है। इधर कुछ वर्षों में भोजपुरी, पंजाबी, तमिल, तेलुगु आदि भाषाओं का बाज़ार बढ़ा है। सिनेमा भी उन भाषाओं को चुन कर फिल्म में स्वाद में नमक जितना लोकल भाषा डालता है। भोजपुरी इधर के कुछ वर्षों में आंदोलन और मनोरंजन दोनों की भाषा बनकर उभरी है। देखते ही देखते भोजपुरी सिनेमा की बिकाऊ भाषा बन गई। पीके फिल्म का वह दृश्य जिसमें आमिर खान राजस्थान में एक लड़की का हाथ पकड़ जिस भाषा को अपने अंदर स्थानान्तरण करते हैं वह भोजपुरी है। यह अनायास नहीं हुआ है। क्योंकि भोजपुरी इस दौर में लोकप्रियता का नया मानदंड स्थापित करने वाली भाषा बनी है लिहाज़ा सिनेमा ने उसका फायदा उठाने के लिए फिल्म बना दी। आप सोचिए अगर पीके फिल्म का नायक एलियन के रूप में राजस्थानी भाषा का चुनाव करता तो दर्शकों से कितना कनेक्ट कर पाता? भोजपुरी के साथ एक चीज और भी है वह हिंदी व्याकरण के भी करीब है इसलिए ठेठ भोजपुरी न बोलकर टोन भी भोजपुरी वाली रखी जाए तब भी दर्शक उसे भोजपुरी ही समझेगा। इस संदर्भ में जरा अस्सी के दशक में जाकर फिल्म 'नदिया के पार' का व्यावसायिक व्याकरण समझना होगा। अस्सी के दशक में जिन फिल्मों को देखने लोग बार-बार सिनेमाघरों में गए उनमें 'नदिया के पार' ने सारे रिकॉर्ड तोड़ दिए। आज भी उसकी लोकप्रियता कम नहीं हुई है। सेंसर बोर्ड ने उसे हिन्दी सिनेमा के अंतर्गत पास किया है लेकिन उसे भोजपुरी का सिनेमा कहकर प्रचारित किया। उस फिल्म की लोकप्रियता हिंदी और भोजपुरी दोनों भाषाओं के लोगों में है। निर्माता और निर्देशक ने बड़ी चालाकी से फिल्म की भाषा तो हिंदी रखी लेकिन टोन भोजपुरी रख दी। यह सिनेमा के समाजशास्त्र का भाषायी हथियार है। भूमंडलीकरण के बाद यह प्रक्रिया और तेजी से बढ़ी है। निर्देशक और निर्माता बड़ी चालाकी से हिंदी को केंद्र में रखकर लोकल भाषाओं का सम्मिश्रण कर फिल्म निर्माण करते हैं। हालांकि इसे भूमंडलीकरण की ताकत के रूप में देखना चाहिए जिसने कुछ भाषाओं को बड़ी पहचान दी।